

# बुद्धिवाद का धोखा

मौलाना सैयद अबुल-आला मौदूदी (रह०)

## दो शब्द

बहुत-से आधुनिक शिक्षा प्राप्त मुस्लिम नौजवान माहौल से प्रभावित होकर इस्लामी शिक्षाओं और आदेशों के सिलसिले में शक व शुब्हे का शिकार हो जाते हैं और चाहते हैं कि इन शिक्षाओं में माहौल के मुताबिक तबदीली कर दी जाए। इस सोच की अस्ल वजह उनका दीन से नावाकिफ़ होना है। उनकी दीन के सिलसिले में जो मालूमात हैं वे बहुत ही कम और अधूरी हैं। ऐसे नादान लोग दूसरों से जल्द प्रभावित हो जाते हैं। मिसाल के तौर पर कुछ लोग सूअर के गोश्त के हराम होने पर आपत्ति करते हैं। इसी तरह वे कुरबानी करने को भी एक फ़ुजूल काम समझते हैं।

यही सोच रखनेवाले कई मुस्लिम नौजवानों ने मौलाना सैयद अबुल-आला मौदूदी (रह.) को ख़त लिखकर अपने ऐतिराज़ पेश किए, जिनका मौलाना मौदूदी (रह.) ने बड़े तर्कपूर्ण और प्रभावकारी ढंग से जवाब लिखा। मौलाना के ये जवाब उर्दू की मशहूर मासिक पत्रिका 'तर्जुमानुल-कुरआन' दिसम्बर 1934 ई. और जून 1936 ई. के अंकों में प्रकाशित हुए और बाद में मौलाना के विभिन्न लेखों के संग्रह 'तनकीहात' में शामिल किए गए।

इस्लामी साहित्य ट्रस्ट (दिल्ली) ने जो कि हिन्दी ज़बान में इस्लामी किताबें तैयार करने का अहम काम कर रहा है, इन लेखों का हिन्दी में तर्जमा कराया, ताकि हिन्दी जाननेवाले लोग भी इनसे फ़ायदा उठा सकें और अगर उनके दिमागों में भी इस तरह का शुब्हा या कोई उलझन मौजूद हो तो वह दूर हो सके।

खुदा हमारी कोशिश को क़बूल फ़रमाए!

—नसीम गाज़ी फ़लाही

सेक्रेट्री

इस्लामी साहित्य ट्रस्ट (दिल्ली)

## बुद्धिवाद का धोखा-1

इस्लामी तालीमो-तरबियत के लिहाज़ से थोड़ा-बहुत इल्म रखनेवाले या उससे बिलकुल ही नावाकिफ़ नौजवानों के मज़हबी विचारों पर पश्चिमी शिक्षा और सभ्यता का जो असर होता है, उसका अन्दाज़ा उन लेखों और भाषणों से हो सकता है, जो इस तरह के लोगों की ज़बान और क़लम से आए दिन निकलते रहते हैं। मिसाल के तौर पर हाल ही में सूबा-ए-मुत्तहिदा (उत्तर प्रदेश) के एक मुस्लिम ग्रेजुएट साहब का एक लेख हमारी नज़र से गुज़रा जिसमें उन्होंने चीन और जापान के अपने सफ़र का हाल बयान करते हुए लिखा है—

“हमारे साथ जो चीनी यात्री हैं वे हर क्रिस्म के खाने और शराब के बेहद शौकीन हैं। सूअर का गोश्त तो उनकी जान है। अब मैंने ईसाइयत की तरक्की का राज़ समझा। चीन अपने पुराने मज़हब की पैरवी का नई शिक्षा के साथ कोई मेल नहीं पाता है। उसको इस्लाम क़बूल करने में झिझक न होती अगर वह उसको समझता होता। मगर इस्लाम उसको उसके तमाम पसन्दीदा भोजनों (खाने की चीज़ों) से वंचित कर देता है। मजबूर होकर वह ईसाई हो जाता है। कुछ आश्चर्य नहीं कि भविष्य में चीन का सरकारी मज़हब ईसाइयत हो जाए। मैं सूअर के गोश्त के विषय में यूरोपवाले और चीनवाले नव-मुस्लिमों को थोड़ा डील देना पसन्द करता हूँ। कुरआन से भी मुझे इसके बिलकुल हराम होने में संदेह है। इससे अधिक कुछ नहीं कि अरबवालों के लिए किसी खास वजह से हराम कर दिया गया हो। किन्तु ऐसे देशों में जहाँ इसके बग़ैर—फ़-मनिज़तुर-र ग़ै-र बाग़िवं वला आदिन—यानी कि ‘जो व्यक्ति मजबूरी की हालत में हो और वह इनमें से कोई चीज़ खा ले, बिना इसके कि वह

नाफ़रमानी करना चाहता हो या ज़रूरत की हद से आगे बढ़े।' —हो जाए तो क्या हरज है?"

“बहरहाल कुरआन का यही एक आदेश है जिसके आमतौर से हaram किए जाने की वजह मेरी समझ में अब तक नहीं आई, हालाँकि पेट के उसूलों और नैतिकता के कारकों (नैतिकता पर असर डालनेवाली चीज़ों) के बीच इतनी दूरी होने पर भी मज़हब हमारे खाने का मीनू (Menu) तैयार करे तो फिर कोई वजह नहीं कि वह हमको लोहार, सुनार, दर्ज़ी आदि का काम भी क्यों न सिखाए। मेरा ख़याल है कि दुनिया में इस्लाम के तरक्की न करने का राज़ इसी में छिपा है कि वह आदमी के तमाम इनसानी हकों को छीनकर उसको एक बेजान लाश और ऐसा बेबसो-लाचार बच्चा बना देता है कि वह अपनी दुनियावी तरक्की के मार्ग में सब भूल जाता है। वरना धर्म हकीकत में उसी कद्र होना चाहिए जैसा कि ईसाइयों ने समझ रखा है।”

इसके बाद वे शिंघाई के हालात बयान करते हुए लिखते हैं—

“खुदा के बनाए हुए इन बेशुमार इनसानों को प्रसन्न और खुशहाल देखकर दिल गवाही नहीं देता कि ये तमाम-के-तमाम कुछ साल के बाद दोज़ख़ का ईंधन बनाए जाएँगे। मानो इनकी पैदाइश का यही एक मक़सद खुदा के पास रह गया है। फिर वे सब-के-सब, ‘इल्ला माशाअल्लाह’ कुछ लोगों को छोड़कर अगर बुतपरस्त (मूर्तिपूजक) और कुफ़्र में पड़े हुए हैं तो उन्होंने दोज़ख़ में रखे जाने के लिए क्या यही कुसूर किया है कि उन्होंने खुदा की ज़मीन को आबाद कर दिया है? न वे हाजियों को क़त्ल करते हैं, न उनमें लूत (अलैहि.) की क़ौम जैसी बुरी आदत (दुष्कर्म) है, न वे किसी के माल को हज़्म कर लेते हैं और न उसको जाइज़ करने के लिए बहाने तलाश करते हैं। ख़ामोशी से इस ज़िन्दगी को अच्छी तरह और ख़ूबी के साथ तय कर रहे हैं। फिर भी वे दोज़ख़ में डाले जाने के हक़दार हैं। आख़िर क्यों? ...यक़ीनन बहुदेववाद (शिक) एक निरर्थक कल्पना है, लेकिन

यह तो बताओ कि अगर एक व्यक्ति ऐसी हस्ती का स्वभावतः क्रायल हो जाता है जो उसको मारती और जिलाती है तो सिर्फ़ इसलिए कि उसकी वास्तविकता उसकी समझ से उतनी ही बाहर है जितनी हमारी समझ से, या वह अरबी को खुदा की भाषा नहीं समझता, तुम उसके दुश्मन और वह तुम्हारा दुश्मन हो जाता है। किन्तु नहीं, तुम्हारी नज़र में यह सब कुछ ज़रूरी नहीं है, ज़रूरी तो यह है कि पायजामा एक खास आकार का हो, कुर्ते की काट ऐसी हो, फुलॉ क्रिस्म का खाना खाए, चेहरे पर चार अँगुल की दाढ़ी हो, कभी अपने देश के स्कूलों में क़दम न रखे, इसलिए कि वहाँ मज़हब की ज़बान और मज़हब का फ़न (कला) तुमको नहीं सिखाया जाता।”

जापान के बन्दरगाह कूबे के बारे में कहते हैं—

“दो घण्टे तक मैं कूबे में फिरता रहा। एक भी भीख माँगनेवाला मुझको न मिला और न कोई फटे-पुराने कपड़ों में बदहाल मिला। यह है उस क्रौम की तरक्की का हाल, जो न मज़हब को जानती है और न खुदा को।”

फिर वे खुद ही ‘नसीहत करना’ शुरू करते हैं—

“याद रखो कि एहसान (नेकी व भलाई) अस्ल धर्म है और एहसान किसी भाषा और कला का मुहताज नहीं। उसका स्वाभाविक लक्ष्य यह है कि हम आनेवाली ज़िन्दगी या स्वयं इस ज़िन्दगी में अपने कर्मों के प्रति जवाबदेह हैं और होंगे। यही अस्ल में इस्लाम मज़हब है। इससे अधिक जिस चीज़ को तुमने मज़हब का नाम दे रखा है वह सिर्फ़ तुम्हारे मन का धोखा है या तुम्हारे दिमाग़ की ख़राबी है। जिस दिन इन दोनों बातों पर धर्म को सीमित कर दोगे और अपनी सारी बेड़ियाँ शरीअत की तोड़ डालोगे, तुम भी दूसरी क्रौमों के साथ तरक्की के शिखर पर पहुँच जाओगे, बल्कि यूँ कहो कि तुम क्रौमों में ज़मीर (अन्तरात्मा) पैदा कर दोगे जिनके हाथ से

अगर दुनिया नहीं गई है तो आसमानी बादशाहत भी न जाएगी। तुम खुद कोई क्राँम नहीं हो, बल्कि क्राँमों के सुधारक हो। मगर खुदा के लिए इसके कहने का मौक़ा न दो कि फ़ुलॉ क्राँम बुलन्दी पर है, मगर जो उनमें मुसलमान हैं, उनकी हालत ख़राब है, और यक्रीनन इस ख़राबी का जिम्मेदार उनका अजीबो-ग़रीब मज़हब है।”

यह लेख हमारी नई तालीमयाफ़्ता नस्ल की आम दिमागी हालत का एक खुला नमूना है। मुसलमान के घर पैदा हुए, मुस्लिम सोसायटी के सदस्य की हैसियत से पले-बढ़े, मुसलमानों के साथ सामाजिक और सांस्कृतिक (तमद्दुनी) बन्दिशों में बंधे, इसलिए इस्लाम की मुहब्बत, मुसलमानों के साथ हमदर्दी और मुसलमान रहने की ख़ाहिश मानो उनकी घुट्टी में पड़ी और उनके दिलों में इस तरह बैठ गई कि उसमें उनके इरादे (संकल्प) और अपनी अक्ल, सोच और विचारों का दख़ल न था। मगर इसके पहले कि इस बेइख़्तियारी और बग़ैर सोचे-समझे अपनाए हुए इस्लाम को तालीम और तरबियत के ज़रिए से इख़्तियारी और शुऊरी इस्लाम बनाया जाता और इनमें यह सलाहियत पैदा की जाती कि वे इस्लाम की शिक्षाओं को पूरी तरह समझकर मुस्लिम होते और अमली ज़िन्दगी में उसके हुक्मों और क़ानूनों को व्यवहार में लाकर भी देख लेते, उन्हें अंग्रेज़ी स्कूलों और कॉलेजों में भेज दिया गया, जहाँ उनकी ज़ेहनी और वैचारिक प्रतिभाओं की परवरिश बिल्कुल ग़ैर-इस्लामी तालीमो-तरबियत में हुई और उनके दिमागों पर पश्चिमी सोच और पश्चिमी सभ्यता के उसूल इस तरह छा गए कि हर चीज़ को वे पश्चिम की नज़र से देखने और हर मसले पर पश्चिम ही के ज़ेहन से ग़ौर करने लगे। और पश्चिमवादिता के इस असर से आज़ाद होकर सोचना और देखना उनके लिए नामुमकिन हो गया। पश्चिम से उन्होंने बुद्धिवादिता (Rationalism) का सबक सीखा, किन्तु स्वयं बुद्धि (अक्ल) उनकी अपनी न थी, बल्कि यूरोप से हासिल की हुई थी। इसलिए उनकी बुद्धिवादिता अस्त में फ़िरंगी (अंग्रेज़ी) बुद्धिवादिता हो गई, न कि स्वतंत्र बुद्धिवादिता। उन्होंने पश्चिम से आलोचना (Criticism) की भी शिक्षा ली, मगर यह आज़ाद आलोचना की शिक्षा न थी, बल्कि इस चीज़ की शिक्षा थी कि पश्चिम के उसूलों को सच

मानकर उनके अनुसार हर उस चीज़ को जाँचो जो पश्चिमी नहीं है, लेकिन स्वयं पश्चिम के उसूलों को तंकीद (आलोचना) के दायरे से बाहर समझो। इस शिक्षा-दीक्षा के बाद जब ये लोग कॉलेजों से शिक्षा प्राप्त करके निकले और ज़िन्दगी के अमल के मैदान में उन्होंने क़दम रखा तो उनके दिल और दिमाग़ के बीच में पूरब और पश्चिम की दूरी पैदा हो चुकी थी। दिल मुसलमान थे और दिमाग़ ग़ैर-मुस्लिम। रहते मुसलमानों में थे, उनके दिन-रात के मामले मुसलमानों के साथ थे, सांस्कृतिक (तमददुनी) और सामाजिक बन्दिशों में मुसलमानों के साथ बँधे हुए थे, अपने आसपास मुसलमानों की मज़हबी और सांस्कृतिक ज़िन्दगी के काम-काज देख रहे थे, हमदर्दी और मुहब्बत के रिश्ते मुसलमानों से जुड़े हुए थे, मगर सोचने-समझने और राय क़ायम करने की जितनी ताकतें थीं वे सब पश्चिमी साँचों में ढली हुई थीं जिनसे न इस्लाम का कोई नियम अनुकूलता रखता था और न मुसलमानों का कोई काम। अब उन्होंने पश्चिमी मेयार (पैमाने) के मुताबिक़ इस्लाम और मुसलमानों की हर चीज़ की आलोचना शुरू की और हर उस चीज़ को ग़लत और बदलाव के लायक़ समझ लिया जिसको उस पैमाने (Standard) के खिलाफ़ पाया। चाहे वह इस्लाम के बुनियादी उसूलों में से हो या मामूली नियमों में से, या सिर्फ़ मुसलमानों का अमल हो। उनमें से कुछ ने हालात की खोजबीनी के लिए इस्लाम का कुछ अध्ययन भी किया, किन्तु आलोचना व अनुसंधान (Research) का मेयार (Standard) वही पश्चिमी रहा। उनकी समझ और स्वभाव के टेढ़े सुराख़ में इस्लाम की सीधी कील आख़िर बैठती तो कैसे!?

धार्मिक मामलों पर जब ये लोग अपने विचार ज़ाहिर करते हैं तो उनकी बातों से साफ़ मालूम होता है कि बग़ैर सोचे-समझे तक्रार कर रहे हैं। न उनकी भूमिकाएँ दुरुस्त होती हैं, न तर्क-वितर्क के अंदाज़ पर उनको तरतीब देते हैं, और न सही नतीजे निकालने की कोशिश करते हैं। हद यह है कि बातें करते वक़्त खुद अपनी पोज़ीशन भी निर्धारित नहीं करते। एक ही वार्ता-क्रम में कई हैसियतें अपना लेते हैं। अभी एक हैसियत से बोल रहे थे कि अचानक एक दूसरी हैसियत अपना ली और पिछली हैसियत के खिलाफ़

बोलने लगे। विचार एवं चिन्तन की सुस्ती (Loose thinking) उनके धार्मिक उपदेशों की नुमायाँ खूबी है। धर्म के अलावा जिस मामले पर भी बोलेंगे होशियार और चौकन्ने होकर बोलेंगे, क्योंकि वहाँ अगर किसी तरह की अनुशासनहीनता हो गई तो जानते हैं कि इल्मवालों की निगाह में कोई औकात बाकी न रहेगी। लेकिन मज़हब चूँकि उनकी निगाह में कोई महत्व नहीं रखता और उसको वे उतना वज़न ही नहीं देते कि उसपर बात करते वक़्त अपने दिमाग़ पर ज़ोर देना ज़रूरी समझें, इसलिए वे यहाँ बिल्कुल बेफ़िक्री के साथ ढीली-ढाली बातें करते हैं, मानो खाना खाकर आरामकुर्सी पर लेटे हुए हैं और सिर्फ़ मनोरंजन के तौर पर बोल रहे हैं, जिसमें बात करने के अनुशासन और नियमों को ध्यान में रखने की कोई ज़रूरत नहीं।

दूसरी बात जो उनके लेखों में साफ़ तौर पर नज़र आती है, वह विचारों का उथलापन और मालूमात की कमी है। मज़हब के सिवा किसी और मामले में वे उतनी कम जानकारी और उतने कम ग़ौरो-फ़िक्र के साथ बोलने का साहस नहीं कर सकते, क्योंकि वहाँ अगर तहकीक के बग़ैर एक वाक्य मुँह से निकल जाए तो इज़्ज़त जाती रहेगी, लेकिन मज़हब के मामले में वे जाँच-पड़ताल, अध्ययन और ग़ौरो-फ़िक्र करना ज़रूरी नहीं समझते। सरसरी तौर पर जो कुछ मालूम हो गया उसपर राय कायम कर ली और बेझिझक उसको बयान कर दिया। इसलिए कि किसी पकड़ का यहाँ डर ही नहीं। पकड़ अगर करेगा तो मौलवी करेगा और मौलवी के बारे में यह बात पहले ही झूठी व मनघड़त धारणा के तौर पर पूरी तरह मन में बैठी हुई है कि वह अंध एवं पुराने विचारोंवाला, और तंगनज़र होता है।

लेखक महोदय का यह लेख—खुदा उन्हें बुरी नज़र से बचाए—दो खूबियाँ लिए हुए है। सबसे पहले तो उनके लेख से यही नहीं मालूम होता कि मुस्लिम की हैसियत से बात कर रहे हैं या ग़ैर-मुस्लिम की हैसियत से। इस्लाम के बारे में बात करनेवाले की दो ही हैसियतें हो सकती हैं। वह मुस्लिम होगा या ग़ैर-मुस्लिम। जो शख्स मुस्लिम की हैसियत से बात करेगा, चाहे वह मज़बूत अक़ीदेवाला (Orthodox) हो, या आज़ाद विचारवाला या सुधार चाहनेवाला, बहरहाल उसके लिए ज़रूरी होगा कि इस्लाम के दायरे में



रहकर बात करे। यानी कुरआन के फ़ैसले को अन्तिम (Final Authority) समझे और दीन के उन उसूलों और शरीअत के क़ानूनों को स्वीकार करे जो कुरआन ने निर्धारित किए हैं। क्योंकि अगर वह कुरआन के सुबूत को न मानेगा और किसी ऐसी बात में कलाम की गुंजाइश समझेगा, जो कुरआन से साबित हो, तो इस्लाम के दायरे (परिधि) से बाहर निकल आएगा और इस दायरे से निकलने के बाद उसके मुस्लिम होने की हैसियत ही बाक़ी न रहेगी कि वह उसमें वार्ता कर सके। रही दूसरी हैसियत यानी यह कि बोलनेवाला ग़ैर-मुस्लिम हो तो इस हैसियत में उसे पूरा हक़ होगा कि कुरआन के उसूल और उसके अहक़ाम पर जैसी चाहे आलोचना करे। इसलिए कि वह इस किताब के फ़ैसले को अन्तिम फ़ैसला (Final decision) नहीं मानता। लेकिन यह हैसियत इख़्तियार करने के बाद उसे मुस्लिम की हैसियत से बात करने और मुसलमान बनकर मुसलमानों को इस्लाम का मतलब समझाने और इस्लाम की तरक्की के संसाधन (वसाइल) बताने का कोई हक़ नहीं होगा। अक्ल और शुऊर रखनेवाला एक आदमी जब सोच-समझकर इस्लाम के बारे में बात करेगा, तो वह सबसे पहले यह फ़ैसला करेगा कि वह उन दोनों हैसियतों में से कौन-सी हैसियत अपनाता है। फिर वह जो हैसियत भी इख़्तियार करेगा उसकी अक्ली शर्तों को ध्यान में रखेगा। क्योंकि एक ही साथ अपने-आपको मुसलमान भी कहना और कुरआन के निर्धारित किए हुए उसूल और क़ानूनों पर नुक्ताचीनी का हक़ भी इस्तेमाल करना, कुरआन की सनद में टीका-टिप्पणी भी करना और मुसलमानों को अच्छी नसीहतें भी सुनाना किसी अक्ल रखनेवाले का काम नहीं हो सकता। इन दो विपरीत बातों को एक साथ अपनाने का मतलब यह हुआ कि एक व्यक्ति एक ही वक़्त में मुस्लिम भी हो और ग़ैर-मुस्लिम भी, इस्लाम के दायरे के अन्दर भी हो और बाहर भी।

लेख लिखनेवाले साहब की इल्मी योग्यता और उनके समझदार होने की तरफ़ से हम इतने बदगुमान नहीं हैं कि उनसे यह उम्मीद रखें कि अगर वे इस्लाम के सिवा किसी अन्य मसले पर भी बात करते तो उसमें भी इस तरह दो अलग-अलग हैसियतों को एक ही वक़्त में अपने अन्दर जमा करते। हम

उनसे यह आशा नहीं रखते कि वे भारत के हाकिम की अदालत में बैठकर भारत के हाकिम के जारी किए हुए क़ानूनों पर नुक्ताचीनी करने का हक़ इस्तेमाल करेंगे, न हम उनसे इस दुस्साहस की उम्मीद रखते हैं कि वे किसी खास मसलक (School of thought) के उसूलों की पैरवी का दावा करने के बाद उन उसूलों पर मुख़ालफ़ाना (विरोधात्मक) नुक्ताचीनी करेंगे जिनपर वह सम्प्रदाय अथवा मसलक कायम है। लेकिन अजीब तमाशा यह है कि इस्लाम के मामले में उन्होंने दो बिलकुल अलग-अलग हैसियतें अपना रखी हैं और यह महसूस तक नहीं किया कि वे बार-बार अपनी पोज़ीशन बदल रहे हैं। एक तरफ़ वे अपने-आपको मुसलमान कहते हैं, मुसलमानों को 'एहसान' यानी 'दीन के उसूल' का उपदेश देते हैं, दूसरी तरफ़ उस किताब के मुक़रर किए हुए उसूल और क़ानूनों पर नुक्ताचीनी भी करते हैं, जिसपर इस्लाम की बुनियाद कायम है और जिसको आखिरी प्रमाण मानना मुसलमान होने की लाज़िमी शर्त है। क़ुरआन एक नहीं चार जगह स्पष्ट रूप से सूअर<sup>1</sup> के गोश्त को हराम करार देता है, मगर आप इस सिलसिले में ढील देना पसन्द करते हैं और मज़े की बात यह कि ढील देने की यह इच्छा भी 'इस्लाम की तरक्की' के लिए है। मानो कि इस्लाम की तरक्की की चिन्ता आपको क़ुरआन से भी अधिक है! या कोई इस्लाम क़ुरआन से बाहर भी है जिसकी तरक्की आप चाहते हैं! क़ुरआन हकीकत में इनसानों के लिए खाने का मीनू तैयार करता है। वह खाने की चीज़ों में हलालो-हराम (वैध-अवैध), शुद्ध-अशुद्ध का अन्तर कायम करता है और साफ़ कहता है कि तुम अपने इख़्तियार से किसी भी चीज़ को हलाल या हराम ठहराने का हक़ नहीं रखते।<sup>2</sup> किन्तु आपको अपने हक़ पर ज़िद है और खुद क़ुरआन का यह हक़ क़बूल करने में झिझक है कि वह खाने-पीने में मज़हब को दख़ल दे। क़ुरआन धर्म को उन हदों में नहीं रखता जिनमें सेंट पॉल (न कि मसीह) की पैरवी करनेवालों ने उसको

- 
1. देखें : क़ुरआन, सूरा-2 बक्रा, आयत-173; सूरा-5 माइदा, आयत-3; सूरा-6 अनआम, आयत-145; सूरा-16 नहल, आयत-115
  2. और जो कुछ तुम्हारे मुँह में आए झूठ-मूठ न कह दिया करो कि यह हलाल है और वह हराम है। (क़ुरआन, सूरा-16 नहल, आयत-116)

सीमित किया है। वह लिबास, खाना-पीना, निकाह-तलाक, विरासत, लेन-देन, सियासत (राजनीति), अदालत, ताज़ीरात (दण्ड-संहिता) वगैरा के क़ानून बनाता है, मगर आप इस प्रकार के क़ानून बनाने को ग़लत समझते हैं। उसको 'इस्लाम की तरक्की' में बाधक ठहराते हैं। उसपर इलज़ाम लगाते हैं कि वह इनसान को एक बेजान लाश और बेबस बच्चा बना देता है और सुझाव देते हैं कि मज़हब उतना ही होना चाहिए जितना ईसाइयों (अस्ल में पॉलोसियों) ने समझा है। क़ुरआन ने खुद शरीअत के क़ानून बनाए हैं और उनको अल्लाह की हदें कहकर उनकी पाबन्दी करने का आदेश दिया है, किन्तु आप शरीअत की हदों को बेड़ियाँ कहते हैं और सेंट पॉल की तरह मज़हब के विस्तार और तरक्की के लिए ज़रूरी समझते हैं कि इन बेड़ियों को तोड़ डाला जाए। क़ुरआन के नज़दीक ईमान नजात की पहली और लाज़िमी शर्त है और जो लोग खुदा पर ईमान नहीं रखते उनके बारे में वह स्पष्ट शब्दों में कहता है कि वे दोज़ख़ (नरक) का ईंधन बनाए जाएँगे। (क़ुरआन, सूरा-21 अम्बिया, आयत-98) चाहे वे अनगिनत हों या गिनती में आ जाएँ, खुशहाल हों या बदहाल, मगर आपका यह हाल है कि हक़ के इनकारियों और बुतपरस्तों की बेशुमार भीड़ को सम्पन्न और खुशहाल देखकर आपका दिल गवाही नहीं देता कि कुछ साल के बाद वे सब दोज़ख़ का ईंधन बनाए जाएँगे और आपकी समझ में नहीं आता कि उन्होंने खुदा की ज़मीन को आबाद कर देने के सिवा और कौन-सा कुसूर किया है। सवाल यह है कि क़ुरआन से इतना खुला हुआ इख़्तिलाफ़ (मतभेद) रखते हुए आप मुसलमान कैसे रह सकते हैं? और मुसलमान होते हुए क़ुरआन से इख़्तिलाफ़ कैसे कर सकते हैं? अगर आप मुसलमान हैं तो क़ुरआन से इख़्तिलाफ़ (मतभेद) न कीजिए और अगर क़ुरआन से इख़्तिलाफ़ करना चाहते हैं तो इस्लाम के दायरे से बाहर खड़े होकर इख़्तिलाफ़ कीजिए।

जो शख्स किसी मज़हब के उसूल और उसके अहकाम और क़ानूनों से संतुष्ट न हो, जिसका दिल उनकी सच्चाइयों पर गवाही न देता हो, जो उनके कारणों और भेदों को समझ पाने में असमर्थ हो और जिसकी नज़र में उनमें से कुछ या अकसर बातें आपत्तिजनक हों, उसके लिए दो रास्ते खुले हुए हैं,

या तो वह उस मज़हब से निकल जाए, फिर उसको हक़ होगा कि उस मज़हब के जिस क़ायदे और जिस हुक्म पर चाहे नुक्ताचीनी करे, या फिर वह इत्मीनान न होने के बावजूद उस मज़हब में रहना चाहता है तो उसकी मुख़ालफ़त करने से बचे और इजतिहाद करनेवाला बनकर उसके क़ायदों और क़ानूनों में काट-तराश करने के बजाय तालिबे-इल्म (विद्यार्थी) बनकर अपने शकों और संदेहों को हल करने की कोशिश करे। अक्ल और समझ की दृष्टि से तो इस हालत में यही दो तरीक़े मुनासिब हो सकते हैं और अक्लमन्द आदमी जब कभी ऐसी हालत में फँसेगा तो इन्हीं में से किसी एक तरीक़े को अपनाएगा। किन्तु लेखक महोदय और उनकी तरह बहुत-से अंग्रेज़ों के रंग में रंगे हुए, अंग्रेज़ी तालीम और तरबियत पाए हुए लोगों का हाल यह है कि पहला तरीक़ा अपनाने की नैतिक तौर पर उनमें हिम्मत नहीं है, और दूसरा तरीक़ा अपनाते हुए उन्हें शर्म आती है। इसलिये उन्होंने बीच का एक ग़ैर-अक्ली तरीक़ा अपना रखा है और वह यह है कि एक तरफ़ मुसलमानों में शामिल भी होते हैं, इस्लाम की तरक्की के इच्छुक भी होते हैं, इस्लाम और मुसलमानों के दर्द में तड़पते भी हैं, और दूसरी तरफ़ इस्लाम के खिलाफ़ वह सब कुछ कहते और करते हैं जो एक ग़ैर-मुस्लिम कह और कर सकता है। हदीस और फ़िक़्ह तो एक तरफ़ क़ुरआन तक पर नुक्ताचीनी करने से बाज़ नहीं रहते और उन तमाम बुनियादों पर चोट लगा जाते हैं जिनपर इस्लाम क़ायम है। उन लोगों का दावा है कि हम बुद्धिवादी (Rationalist) हैं। कहते हैं कि हम कोई ऐसी बात नहीं मान सकते जो अक्ल के खिलाफ़ हो। मुल्लाओं पर उनका सबसे बड़ा इलज़ाम यही है कि वे बुद्धि और अक्ल से काम नहीं लेते। किन्तु खुद उनका हाल यह है कि मज़हब के मामले में सब उलटी-सीधी बातें करते हैं, विरोधाभासी तरीक़ा अपनाते हैं और अपनी एक बात का खण्डन (रद्द) खुद अपनी ही दूसरी बात से कर जाते हैं। आख़िर यह रैशनलिज़्म (बुद्धिवादिता) की कौन-सी क्रिस्म है जिसकी खोज का श्रेय इन रौशन ख़याल लोगों को हासिल हुआ है।

अब ज़रा उनकी मालूमात की वुसअत (व्यापकता) और विचारों की गहराई देखिए—

इस्लाम की तरक्की के लिए आप ज़रूरी समझते हैं कि मसीहियत (ईसाइयत) की तरह इस्लाम से भी शरीअत की हदें (धार्मिक क़ानून) हटा दी जाएँ और इस्लाम सिर्फ़ एक अक़ीदे (आस्था) की हैसियत में रह जाए। क्योंकि ईसाइयत की तरक्की का राज़ जो आपने समझा है वह यह है कि उसमें हरामो-हलाल की क़ैदें नहीं हैं, नैतिक पाबन्दियाँ नहीं हैं, उसमें आदमी के इनसानी अधिकारों को ख़त्म करके उसको एक बेजान लाश और बेबस बच्चा नहीं बनाया गया है, बल्कि उसको आज़ादी दे दी गई है कि मसीह पर ईमान (आस्था) रखकर जो चाहे करे। मगर आपने यह ग़ौर नहीं किया कि इस्लाम जिस चीज़ का नाम है वह कुरआन में है और कुरआन ने ईमान और नेक अमल के मजमूए (संग्रह) का नाम इस्लाम रखा है। नेक अमल के लिए शर्तें निश्चित की हैं, क़ानून बनाए हैं और वैयक्तिक और सामूहिक ज़िन्दगी के लिए अमल की एक पूर्ण व्यवस्था मुकर्रर की है, जिसके बिना इस्लाम एक दीन (जीवन-व्यवस्था) और एक सभ्यता की हैसियत से क़ायम नहीं हो सकता। इस व्यवस्था और इसकी हदों को रद्द करने का इख़्तियार किसी मुसलमान को नहीं है, क्योंकि इसका रद्द करना कुरआन का रद्द है और कुरआन का रद्द इस्लाम का रद्द है और जब इस्लाम ख़ुद ही रद्द हो जाए तो इसकी तरक्की का क्या मतलब? आप ख़ुद किसी मज़हब की खोज करके उसका प्रचार-प्रसार कर सकते हैं, मगर जो चीज़ कुरआन के ख़िलाफ़ है उसको इस्लाम के नाम से जोड़ने और उसकी तरक्की को इस्लाम की तरक्की कहने का आपको क्या हक़ है?

आप इस्लाम सिर्फ़ इस अक़ीदे (आस्था) का नाम रखते हैं कि: “हम आइन्दा ज़िन्दगी में या ख़ुद इस ज़िन्दगी में अपने कर्मों के प्रति जवाबदेह हैं और होंगे।” यह बात शायद आपने इस उम्मीद पर की है कि अगर इस्लाम इस हद में सीमित हो जाएगा तो बिलकुल नर्म और आसान हो जाएगा और ख़ूब फैलता चला जाएगा। लेकिन अगर आप इस अक़ीदे के मतलब पर ग़ौर करते तो आपको मालूम हो जाता कि इस हद में सीमित हो जाने के बाद भी इस्लाम आपकी मर्ज़ी के मुताबिक़ नहीं हो सकता। इस अक़ीदे को मज़हब ठहराने के लिए सबसे पहले तो आख़िरत की ज़िन्दगी पर

ईमान लाना ज़रूरी है। फिर जवाबदेही का मतलब तीन बातों की माँग करता है—एक यह कि जिसके सामने जवाबदेही करनी है उसको तय कर लिया जाए और उसकी सर्वोच्चता स्वीकार कर ली जाए। दूसरी यह कि जवाबदेही किस तरह की हो यह भी तय कर लिया जाए और ज़िन्दगी के कर्मों में इस आधार पर फ़र्क़ किया जाए कि किन कर्मों से उस जवाबदेही में सफलता मिलेगी और कौन-से कर्म असफलता के कारण होंगे। तीसरी यह कि जवाबदेही में सफलता और असफलता के अलग-अलग नतीजे तय किए जाएँ। क्योंकि अगर असफलता और नाकामी का नतीजा भी वही हो जो सफलता व कामयाबी का है, या सिरे से दोनों का कोई नतीजा ही न हो तो जवाबदेही बिलकुल बेमानी है। ये उस अक़ीदे की बौद्धिक अनिवार्यताएँ (अक़ली लवाज़िम) हैं जिनको आप अस्ल 'दीन' ठहराते हैं। यदि आपके मशूवरों के मुताबिक़ उसी अक़ीदे पर इस्लाम कायम कर दिया जाए तब भी वही मुसीबत पेश आएगी, जिससे आप बचना चाहते थे। फिर वही ख़ुदा को मानना ज़रूरी होगा जिसके बग़ैर जापान आपको तरक्की की चोटी पर चढ़ता हुआ नज़र आ रहा है। फिर वही शरीअत की बेड़ियाँ और नैतिकता की ज़ंजीरें तैयार हो जाएँगी जिनको आप तोड़ना चाहते हैं और जिनके वुजूद में आपकी नज़र में इस्लाम के तरक्की न करने का राज़ छिपा हुआ है। फिर वही अज़ाबो-सवाब का झगड़ा निकल आएगा और ख़ुदा के पैदा किए हुए इन बेशुमार इनसानों को उस अक़ीदे के बग़ैर ख़ुशहाल देखकर आपका दिल फिर इस बात पर गवाही देने से इनकार कर देगा कि कुछ साल बाद ये सब अज़ाब में पड़ेंगे।

कृपया, अब थोड़ा विचार करके किसी ऐसी चीज़ का नाम इस्लाम रखिए जिसमें किसी क़िस्म की शर्त और बन्दिशें न हों, जिसको मानने और न मानने का नतीजा एक समान हो, जिसमें सिर्फ़ ख़ुदा की ज़मीन को आबाद कर देना दुनिया और आख़िरत की कामयाबी के लिए काफ़ी हो, और जिसपर ईमान न लानेवाले बेशुमार इनसानों को ख़ुशहाल देखकर आपका दिल गवाही दे सके कि वे सब जन्नत की बुलबुलें बनाई जाएँगी।

क़ुरआन के मुताबिक़ सूअर के गोश्त का बिलकुल हराम होना आपकी

नज़र में यक्रीनी नहीं है। आप संदेह करते हैं कि शायद अरबवालों के लिए किसी खास वजह से हराम कर दिया गया होगा। लेकिन अगर आप इस राय को ज़ाहिर करने से पहले कुरआन खोलकर पढ़ लेते तो इस शक का पता चल जाता। इस किताब में साफ़ लिखा हुआ है—

“(ऐ नबी!) इनसे कहो कि जो वह्य (खुदा का सन्देश) मेरी ओर आई है, उसमें तो मैं कोई चीज़ ऐसी नहीं पाता जो किसी खानेवाले पर हराम हो, सिवाय इसके कि वह मुर्दार हो, या बहाया हुआ खून हो या सूअर का गोश्त हो कि वह नापाक है, या फ़िस्क हो कि अल्लाह के सिवा किसी और के नाम से ज़ब्ह किया गया हो। फिर जो शख्स मजबूरी की हालत में (कोई चीज़ इनमें से खा ले) बिना इसके कि वह नाफ़रमानी का इरादा रखता हो और बिना इसके कि वह ज़रूरत की हद से आगे बढ़े तो निश्चय ही तुम्हारा रब बख़्शनेवाला और रहम करनेवाला है।”

(कुरआन, सूरा-6 अनआम, आयत-145)

इस आयत में सूअर के गोश्त को हर ‘खानेवाले’ के लिए हराम ठहरा दिया गया है और हराम होने की वजह यह ठहराई गई है कि वह ‘नापाक’ है। क्या यहाँ ‘खानेवाले’ से मुराद अरब का ‘खानेवाला’ है? और क्या एक ही चीज़ अरब के लिए ‘नापाक’ और ग़ैर-अरब के लिए पाक एवं पवित्र हो सकती है? और क्या इसी तरीके पर आप मुर्दार खानेवालों के लिए भी ज़रा ढील देना पसन्द करेंगे? आप सूअर के मामले में ढील चाहते हैं तो खुद अपनी तरफ़ से दीजिए, मगर कुरआन के स्पष्ट शब्दों के खिलाफ़ आपको यह कहने का क्या हक़ है कि कुरआन से इसके बिलकुल हराम होने में शक़ है?

आजकल के नए इजतिहाद करनेवालों ने इजतिहाद के जो उसूल बना लिए हैं उनमें से एक यह भी है कि इस्लाम के जिस हुक्म की खिलाफ़वर्जी करना चाहते हैं उसके बारे में बेझिझक कह देते हैं कि यह हुक्म खास अरबवालों के लिए था, चाहे कुरआन में उसके खास होने की तरफ़ कोई थोड़ा-सा इशारा भी न हो और खास होने के लिए वे कोई अक्ली या

रिवायती दलील न रखते हों। अगर यही सिलसिला जारी रहा तो वह वक़्त दूर नहीं कि एक रोज़ कुरआन ही को अरबवालों के लिए ख़ास कर दिया जाए। और 'फ़-मनिज़्तुर-र-ग़ै-र बाग़िंव वला आदिन'—यानी "फिर जो शख़्स मजबूरी की हालत में (कोई हराम की गई चीज़ खा ले) बिना इसके कि वह नाफ़रमानी का इरादा रखता हो और बिना इसके कि वह ज़रूरत की हद से आगे बढ़े," से दलील देना तो इतना मज़ेदार है कि इसको लिखनेवाले साहब के इल्म और सूझ-बूझ की दाद देने को जी चाहता है। निश्चय ही इस आयत का अनुवाद उन्होंने यह किया होगा कि "जब सूअर का मांस खाने को बेइख़्तियार जी चाहे तो खा लो, मगर बाग़ में बैठकर न खा और न उसकी आदत डालना।" सूअर के गोश्त के मामले में यूरोपवालों और चीनवालों के ढील देने की गुंजाइश इस आयत से वही व्यक्ति निकाल सकता है जो न 'इज़तिरार' का मतलब जानता हो, न 'बागी' का मफ़हूम समझता हो और न 'आदी' का मतलब। वरना जाननेवाले के लिए तो इतना दुस्साहस करना बहुत मुश्किल है। आयत का मतलब यह नहीं कि जिन लोगों को मुर्दार खाने या खून पीने का चस्का लगा हुआ हो या जो लोग सूअर के गोश्त पर जान देते हों, या जिनके यहाँ खुदा के सिवा किसी और के नाम पर ज़ब्ह किए हुए जानवर का गोश्त खाने का आम रिवाज हो वे सब मजबूरों में दाख़िल हैं। अगर ऐसा होता तो हराम किए जाने का हुक़म ही बे-मतलब हो जाता। क्योंकि अगर हराम किया जाना उन लोगों के लिए था जो उन चीज़ों के आदी थे, तो दी गई छूट से फ़ायदा उठाकर वे अपनी आदत के मुताबिक़ उन्हें खाते रहते और यदि हराम किया जाना उन लोगों के लिए था जो खुद ही उनसे बचे हुए थे तो उनके लिए इस हुक़म की ज़रूरत ही न थी। आयत में इस्तेमाल अस्ल अरबी के लफ़्ज़ 'इज़तिरार' (मजबूरी) के साथ 'ग़ै-र बाग़िंव वला आदिन' की शर्त लगाकर जो छूट दी गई है उसका मतलब तो यह है कि जो व्यक्ति भूख से मर रहा हो और हराम चीज़ के सिवा कोई चीज़ उसको न मिलती हो, वह सिर्फ़ जान बचाने के लिए 'हराम' चीज़ खा सकता है। लेकिन शर्त यह है कि छूट की हद का उल्लंघन न करे यानी जान बचाने के लिए जितनी मात्रा ज़रूरी हो उससे ज़्यादा न खाए और अल्लाह की हदों



को तोड़ने की इच्छा उसके दिल में न हो। इसी बात को एक दूसरी जगह सूअर और मुर्दार बगैरा चीजों को हराम किए जाने का जिक्र करते हुए बयान किया गया है—‘फ़-मनिज़्तर-र फ़ी मख़-म-सतिन ग़ै-र मु-तजानिफ़िल्लि इस्मिन’ यानी जो शख्स भूख की तीव्रता से मजबूर हो जाए बगैर इसके कि गुनाह की तरफ़ कोई झुकाव उसके दिल में हो, वह ऐसी हालत में हराम चीज़ खा सकता है। कहाँ यह बात और कहाँ वह कि यूरोपवाले और चीनवाले चूँकि सूअर के गोश्त पर जान देते हैं, इसलिए ‘फ़-मनिज़्तर-र ग़ै-र बाग़िंव वला आदिन’ से लाभ उठाकर उनके लिए सूअर को जाइज़ कर दिया जाए और वह भी इसलिए कि वे इस्लाम में दाख़िल हो सकें। अगर इसी तरीके से हर क्रौम की अभिलाषा और ख़ाहिशों का लिहाज़ करके इस्लाम के क़ानूनों में ढील देने का सिलसिला शुरू हो गया तो शराब, जुआ, ज़िना (व्यभिचार), सूद (ब्याज) और इसी तरह की दूसरी तमाम चीज़ों को एक-एक करके हलाल करना पड़ेगा। सवाल यह है कि जो लोग खुदा के आदेशों को मानने और उसकी क़ायम की हुई हदों (मर्यादाओं) की पाबन्दी करने और उसके हराम को हराम समझने के लिए तैयार नहीं हैं, उनको इस्लाम में दाख़िल करने की ज़रूरत ही क्या है? इस्लाम उनका मुहताज़ कब है कि वह उनको राज़ी करने के लिए कम या ज़्यादा पर सौदेबाज़ी करे?

पहले तो सिर्फ़ सूअर ही हराम होने की वजह आपकी समझ में नहीं आई थी, मगर फिर जो आपने ग़ौर किया तो मालूम हुआ कि उसूली तौर पर पेट और अख़लाक़ (नैतिकता) के कारकों एवं उत्प्रेरकों में बहुत दूरी है। इसलिए आपने यह राय क़ायम कर ली कि मज़हब को खाने-पीने की चीज़ों में हलालो-हराम का फ़र्क़ क़ायम करने का सिरे से कोई हक़ ही नहीं है। आपकी इस बात से यह राज़ खुला कि आप जितना क़ुरआन के बारे में जानते हैं भौतिक अथवा शारीरिक विज्ञान (Physical Science) के बारे में भी उससे कुछ ज़्यादा नहीं जानते। क़ुरआन से नावाक़िफ़ (अनभिज्ञ) होना तो ख़ैर एक ‘रौशन ख़याल शिक्षित आदमी’ के लिए शर्मनाक नहीं है, मगर विज्ञान से

इतनी बेखबरी बहुत शर्मनाक है। आपको अब तक यह मालूम नहीं हुआ कि इन्सान के मन (नफ़्स) और उसकी शारीरिक संरचना के बीच क्या ताल्लुक है और उसकी शारीरिक संरचना भोजन (ग़िज़ा) से क्या ताल्लुक रखती है। जो चीज़ शरीर को ख़राब या विनष्ट हो जानेवाले आवश्यक पदार्थों को मुहैया करती है, जिससे शरीर में कोशिकाएँ (Cell) बनती हैं, जिससे बदन के तमाम रेशे और आसाब (स्नायुतंत्र) नए सिरे से बनते हैं, जो कुछ साल के अन्दर पुराने जिस्म की जगह नया जिस्म पूरा-का-पूरा बना देती है, उसके गुणों का असर मन और आत्मा (रूह) पर होना नहीं, बल्कि न होना ताज्जुब करने के लायक बात है। इस हक़ीक़त से वैज्ञानिक दुनिया पहले आमतौर पर ग़ाफ़िल और अनजान थी, मगर आहार-विज्ञान (Dietetics) पर हाल में जो खोजें हुई हैं उनसे यह राज़ खुल चुका है कि इन्सान के अख़लाक़ (नैतिकता) और उसकी ज़ेहनी ताक़तों पर उसके भोजन का असर ज़रूर पड़ता है। इसलिए आजकल के वैज्ञानिक इस खोज में लगे हुए हैं कि तरह-तरह के आहारों से हमारे मन और चिन्तन-शक्ति पर क्या असर होते हैं। मालूम होता है कि हमारे ग्रेजुएट दोस्त की साइंटिफ़िक मालूमात ताज़ा (Up-to-date) नहीं हैं। वरना वे इतने दुस्साहस के साथ यह दावा न कर देते कि उसूली तौर पर पेट और नैतिकता के कारकों में दूर का भी ताल्लुक नहीं। (तर्जुमानुल-कुरआन, दिसम्बर 1934 ई०)

## बुद्धिवाद का धोखा-2

‘बुद्धिवाद’ (Rationalism) और ‘प्रकृतिवाद’ (Naturalism) ये दो चीजें हैं, जिनका प्रचार-प्रसार पिछली दो सदियों से पश्चिमी सभ्यता बड़े जोर-शोर से कर रही है। प्रचार-प्रसार की ताकत से कौन इनकार कर सकता है? जिस चीज़ को बार-बार, लगातार और बहुत ज्यादा निगाहों के सामने लाया जाए और कानों पर मुसल्लत किया जाए उसके असर से इनसान अपने दिल और दिमाग को कहाँ तक बचाता रहेगा। आखिरकार प्रचार-प्रसार के जोर से दुनिया ने यह भी मान लिया कि पश्चिमी ज्ञान-विज्ञान और पश्चिमी सभ्यता की बुनियाद पूरी तरह बुद्धिवादिता और प्रकृतिवादिता पर है। हालाँकि पश्चिमी सभ्यता के आलोचनात्मक अध्ययन से यह हकीकत बिलकुल स्पष्ट हो जाती है कि उसकी बुनियाद न बुद्धिवादिता पर है और न फ़ितरत (प्रकृति) के उसूलों के मुताबिक, बल्कि इसके विपरीत उसका पूरा ढाँचा अनुभव, इच्छा और ज़रूरत पर कायम है और पश्चिमी नवजागरण अस्ल में बुद्धि (अक़ल) और प्रकृति के खिलाफ़ एक बगावत थी। उसने अक़ल में आनेवाली चीज़ों को छोड़कर महसूस होनेवाली और भौतिक चीज़ों की तरफ़ रुख़ किया। अक़ल के बजाय इन्द्रियों (हिस) पर भरोसा किया। अक़ली हिदायतों और तर्कशास्त्रीय (मन्तिकी) सुबूतों और स्वाभाविक बुद्धिमत्ता को रद्द करके महसूस होनेवाले भौतिक नतीजों को अस्ली और हकीकती मेयार (पैमाना) करार दिया। फ़ितरत (प्रकृति) के मार्गदर्शन को रद्द करके ख़ादिश और ज़रूरत को अपना मार्गदर्शक बनाया। हर उस चीज़ को बेकारो-बेबुनियाद समझा जो नाप और तौल में न आ सकती हो। हर उस चीज़ को तुच्छ और अविश्वसनीय ठहरा दिया, जिसपर कोई महसूस होनेवाला भौतिक लाभ हासिल न होता हो। शुरू में यह हकीकत खुद पश्चिमवालों से छिपी हुई थी। इसलिए वे अक़ल और फ़ितरत के खिलाफ़ चलने के बावजूद यही समझते

रहे कि उन्होंने जिस 'रौशन ख्याली' के नए युग की शुरुआत की है, उसकी बुनियाद 'बुद्धिवादिता' (अक्लीयत) और 'प्रकृतिवादिता' (फ़ितरीयत) पर है। बाद में अस्ल हक़ीक़त खुली मगर स्वीकार करने की हिम्मत न हुई। भौतिकवाद और ख़ाहिशों की गुलामी और मन की माँगों और जिस्म की बन्दगी पर मुनाफ़क़त (पाखंड) के साथ अक्ली दलीलों और फ़ितरीयत (प्रकृतिवाद) के दावों के परदे डाले जाते रहे। लेकिन अब मुहावरे के मुताबिक़ ही "बिल्ली थैले से बिलकुल बाहर आ चुकी है।" ग़ैर-माकूलियत (अबौद्धिकता) और ख़िलाफ़वर्ज़ी की लय इतनी बढ़ चुकी है कि उसपर कोई परदा नहीं डाला जा सकता। इसलिए अब खुल्लम-खुल्ला अक्ल और फ़ितरत दोनों से बगावत का एलान किया जा रहा है। इल्म और हिकमत (तत्वदर्शिता) के पवित्र वातावरण से लेकर समाज, अर्थनीति (Economy), राजनीति (Politics) तक हर जगह बगावत का झण्डा बुलन्द हो चुका है और रूढ़िवादियों (Conventionalists) के एक गरोह को अलग करके आधुनिक जगत के तमाम रहनुमा अपनी सभ्यता पर सिर्फ़ ख़ाहिश और ज़रूरत की हुक्मरानी स्वीकार कर रहे हैं।

पश्चिमी सभ्यता में ढले हुए और अंग्रेज़ियत को अपनाए हुए पूरब के लोग अपने पेशवाओं से अभी कुछ क़दम पीछे हैं। जिस शिक्षा और जिस ज़ेहनी फ़िज़ा (वातावरण) और सभ्यता एवं संस्कृति के जिन नतीजों से प्रभावित होकर उनका ज़ेहन और दिमाग़ विकसित हुआ है, उनकी माँग यही है कि वही जाहिरी और भौतिक चीज़ों की परस्तिश और इच्छाओं और ज़रूरतों की गुलामी उनमें भी पैदा हो और हक़ीक़त में ऐसा ही हो रहा है। मगर अभी तक ये उस मंज़िल पर नहीं पहुँचे हैं, जहाँ बिल्ली थैले से बाहर आ जाए। अपने लेख और तक्ररीर में ये अब भी कहे जा रहे हैं कि हम सिर्फ़ अक्ल और फ़ितरत की रहनुमाई क़बूल करते हैं, हमारे सामने सिर्फ़ अक्ली दलीलें पेश करो। हम किसी ऐसी चीज़ को न मानेंगे जो अक्ली दलीलें और फ़ितरी (प्राकृतिक) सुबूतों से साबित न कर दी जाए। लेकिन इन तमाम ऊँचे दावों और इरादों के थैले में वही बिल्ली छिपी हुई है, जो न अक्ली है और न फ़ितरी (प्राकृतिक)। उनके लेखों और तहरीरों का जाइज़ा लीजिए, तो

साफ़ मालूम हो जाएगा कि बौद्धिक और फ़ितरी इल्म को समझने में उनके ज़ेहन असमर्थ हैं। जिनको ये 'अक्ली (बौद्धिक) नतीजा' कहते हैं, उसकी हकीकत पूछिए तो मालूम होगा कि उससे मुराद 'तजरिबे से प्राप्त नतीजा' है और तजरिबे से प्राप्त नतीजा वह है जो ठोस हो, वज़नी हो, गिनती और नाप-तौल में आ सके। कोई चीज़ जिसका फ़ायदा उनको गणित के अंकों से गिनकर या तराजू के पलड़ों से तौलकर, या गज़ से नापकर न बताया जा सके, उसको ये लाभदायक और सही नहीं मान सकते और जब तक उस ख़ास मानी में उसका फ़ायदा और नतीजा सही साबित न कर दिया जाए उसपर यक़ीन करना और उसकी पैरवी करना उनकी नज़र में ऐसा काम है जिसको ये ग़ैर-माकूलियत और अक्ल के ख़िलाफ़ समझते हैं। फ़ितरत (प्रकृति) की रहनुमाई जिसकी पैरवी का उनको दावा है, उसकी हकीकत भी थोड़ी-सी बहस से खुल जाती है। फ़ितरत से मुराद उनके यहाँ इनसानी फ़ितरत नहीं, बल्कि हैवानी (पाशिवक) फ़ितरत है, जो बौद्धिक ज्ञान और दिल की गवाही से ख़ाली है और सिर्फ़ अनुभव, ख़ाहिश और मन व शरीर की माँगों ही रखती है। उनके नज़दीक भरोसे के क़ाबिल सिर्फ़ वही चीज़ें हैं जो इन्द्रियों (हवास) को प्रभावित कर सकें, ख़ाहिशों की प्यास बुझा सकें, जिस्मानी या नफ़्सानी माँगों को पूरा कर सकें, जिनका फ़ायदा तुरन्त देखने में आ जाए और जिनका नुक़सान नज़रों से ओझल हो या फ़ायदे के मुक़ाबले में उनको कम नज़र आए। बाक़ी रहीं वे चीज़ें जो इनसानी फ़ितरत की माँग हैं, जिनकी अहमियत को इनसान अपने विवेक व ज़मीर में पाता है, जिनके फ़ायदे या नुक़सान भौतिक न हों और इन्द्रियों से महसूस न हों, बल्कि इनसान अपने मन और रूह (आत्मा) में महसूस करे, वे अंधविश्वास और ख़ुराफ़ात हैं, घटिया हैं, इनपर ग़ौर नहीं किया जा सकता। उनको किसी प्रकार की अहमियत देना, बल्कि उनके वुजूद को स्वीकार करना भी तारीक़ ख़याली (अंध-विचार), पाखंड और निकम्मापन है। एक तरफ़ अक्ल और फ़ितरत से यह विमुखता है, दूसरी तरफ़ अक्ल और फ़ितरत ही को बुनियाद मानने का दावा है और अक्ल के दीवानेपन का हाल यह है कि वह इस विरोधाभास को महसूस तक नहीं करती।

शिक्षा और सोच की दुरुस्तगी का कम-से-कम इतना फ़ायदा तो हर इन्सान को हासिल होना चाहिए कि उसकी सोच में उलझाव बाक़ी न रहे। विचारों में बिखराव और उलझाव न हो। वह साफ़ और सीधी विचारशैली अपना सके, मामलों को सही क्रम देकर सही नतीजा निकाल सके, एक-दूसरे के विपरीत और बेफ़ायदा बहसों जैसी साफ़ और स्पष्ट ग़लतियों से बच सके। लेकिन कुछ अपवादों को छोड़कर हम अपने आम तालीमयाफ़्ता लोगों को दिमागी तरबियत के इन शुरुआती नतीजों से भी महरूम पाते हैं। उनमें इतनी तमीज़ भी तो नहीं होती कि किसी मसले पर बहस करने से पहले अपनी सही हैसियत निश्चित कर लें, फिर उस हैसियत की अक़्ती अपेक्षाओं को समझें और उनको सामने रखकर दलील देने का ऐसा तरीक़ा अपनाएँ, जो उस हैसियत के अनुकूल हो। उनसे बातें कीजिए या उनके लेख पढ़िए, पहली ही नज़र में आपको महसूस हो जाएगा कि उनके ख़यालों में सख़्त उलझाव है। बहस की शुरुआत एक हैसियत से थी, कुछ क़दम चलकर हैसियत बदल दी। आगे बढ़े तो एक दूसरी हैसियत अपना ली। मुद्दआ को साबित करने के लिए मुक़द्दमों का समझ-बूझकर चुनाव करना और उनको तर्क के उसूलों पर तरतीब देना तक न आया। शुरुआत से लेकर अन्त तक यह भी मालूम न हो सका कि अस्ल में आपका मुद्दआ क्या है? आपके सामने किस मसले की तहक़ीक़ थी और क्या आपने साबित किया? इसकी अस्ल वजह यह है कि वर्तमान सभ्यता और उसके असर से मौजूद तालीम का रुझान ज़्यादातर महसूस होनेवाली चीज़ों और भौतिकता (माद्दियत) की तरफ़ है। वह ख़ाहिशों को तो जगा देती है, चाहत और ज़रूरत की चीज़ों के एहसास को भी उभारती है। महसूस होनेवाली चीज़ों का महत्व भी दिलों में बिठा देती है, मगर अक़ल और ज़ेहन की तरबियत नहीं करती, आलोचना एवं चिन्तन करने की सलाहियतों को नहीं चमकाती, नफ़्स को सही-सलामत बनाने और विचारों को उच्च एवं स्वच्छ करने के ताल्लुक़ से ग़फ़लत बरतती है और सबसे ज़्यादा यह कि भौतिकवाद की तरफ़ असन्तुलित रुझान पैदा करके ज़ेहन का सन्तुलन बिगाड़ देती है। इस तालीम से सुसज्जित होकर जो लोग निकलते हैं, उनमें ग़ौर करने और सोच का अभिमान तो ज़रूर पैदा हो

जाता है और यही गुरुर उनको हर चीज़ पर तार्किक आलोचना करने और हर उस चीज़ से इनकार कर देने पर उभारता है, जो 'उनकी अक्ल' में न समाए, मगर हक़ीक़त में उनका ज़ेहन अक्लीयत यानी बुद्धिवादिता से फ़िरा होता है और सही अक्ली तरीक़े पर किसी मसले को सुलझाने या किसी बात में राय क़ायम करने की सलाहियत उनमें पैदा ही नहीं होती।

इस ग़ैर-माकूल 'अक्लीयत' का इज़हार सबसे अधिक उन मसलों में होता है, जो धर्म से ताल्लुक़ रखते हैं, क्योंकि यही वे मामले हैं जिनकी रूहानी व अख़लाक़ी और सामूहिक व सामाजिक बुनियादें पश्चिम के नज़रियात (दृष्टिकोणों) से हर-हर बिन्दु पर टकराती हैं।

आप किसी अंग्रेज़ी तालीमयाफ़्ता शख़्स से किसी मज़हबी मसले पर बातचीत क़ीजिए और उसकी ज़ेहनी हालत का इम्तिहान लेने के लिए पहले उससे मुसलमान होने का इज़हार करा लीजिए, फिर उसके सामने सिर्फ़ शरीअत के हुक्म बयान करके प्रमाण पेश कीजिए। वह फ़ौरन अपने कंधों को हिलाएगा और बड़े अक्लपरस्त होने के अन्दाज़ में कहेगा कि "यह 'मुल्लाइयत' है। मेरे सामने अक्ली दलील लाओ, अगर तुम्हारे पास अक्ली दलीलें नहीं सिर्फ़ रिवायतें-ही-रिवायतें हैं तो तुम्हारी बात मैं नहीं मान सकता।" बस इन्हीं कुछ वाक्यों से यह राज़ खुल जाएगा कि इस शख़्स को अक्लीयत यानी बुद्धिवादिता की हवा भी छूकर नहीं गुज़री है। इस ग़रीब को वर्षों की तालीम और इल्मी तरबियत के बाद इतना भी मालूम न हो सका कि किसी मसले पर दलील माँगने के लिए क्या चीज़ें ज़रूरी हैं और दलील चाहनेवाले की सही पोज़ीशन क्या होती है। इस्लाम के ताल्लुक़ से अक्ली तौर पर इनसान की दो ही हैसियतें हो सकती हैं—या तो वह मुसलमान होगा या ग़ैर-मुस्लिम—अगर मुसलमान है तो मुसलमान होने का मतलब यह है कि वह खुदा को मान लेने के बाद रसूल को खुदा का रसूल स्वीकार कर चुका है और यह भी इक़रार कर चुका है कि खुदा की तरफ़ से उसका रसूल जो हुक्म पहुँचाएगा उसका पालन बिना कुछ बोले करेगा। अब व्यक्तिगत रूप से एक-एक हुक्म पर अक्ली दलील माँगने का उसे हक़ ही नहीं रहा। मुस्लिम होने की हैसियत से उसका काम सिर्फ़ यह तहक़ीक़ करना है कि कोई ख़ास

हुक्म खुदा के रसूल ने दिया है या नहीं। जब रिवायत की गई दलीलों से यह हुक्म साबित कर दिया गया तो उसको फ़ौरन इसका पालन करना चाहिए। वह दिल के इत्मीनान के लिए और समझ हासिल करने के लिए अक्ली दलील की माँग कर सकता है, मगर उस वक्त जबकि वह हुक्म का पालन करने के लिए सिर झुका चुका हो, पालन करने के लिए अक्ली दलीलें पेश करने की शर्त लगाना और दलील न मिल पाने, या दिल के इत्मीनान न होने पर हुक्म का पालन करने से इनकार कर देने का यह मतलब होता है कि वह अस्ल में खुदा के रसूल की हाकमियत (ऑथॉर्टी) का इनकार कर रहा है और इस इनकार की वजह से उसपर कुफ़्र (खुदा से बगावत) का इलज़ाम साबित होता है। हालाँकि शुरू में उसने खुद मुस्लिम होने का इज़रार किया था। अब अगर वह ग़ैर-मुस्लिम की हैसियत अपना लेता है तो उसके लिए ठहरने की सही जगह इस्लाम के दायरे के अन्दर नहीं, बल्कि उसके बाहर है। सबसे पहले उसमें इतना अखलाकी (नैतिक) साहस होना चाहिए कि जिस मज़हब पर हकीकत में वह ईमान नहीं रखता, उससे निकल जाए। इसके बाद वह इस लायक समझा जाएगा कि अक्ली (बौद्धिक) दलील की माँग करे और उसकी माँग का जवाब दिया जाए।

यह क़ायदा सही अक्ल के तक्राज़ों में से है और दुनिया में कोई व्यवस्था और कोई नियम इसके बग़ैर क़ायम नहीं हो सकता। कोई हुक्मत एक लम्हे के लिए भी क़ायम नहीं रह सकती, जिसकी जनता का हर व्यक्ति उसके हुक्म पर अक्ली दलील की माँग करे और दलील के बग़ैर आदेश के पालन का इनकार कर दे। कोई फ़ौज हकीकत में एक फ़ौज बन ही नहीं सकती, अगर उसका हर सिपाही जनरल से हुक्म की वजह पूछे और हर मामले में अपने दिल में इत्मीनान को हुक्म के पालन के लिए शर्त ठहराए। कोई स्कूल, कोई कॉलेज, कोई संगठन मतलब कि कोई सामूहिक व्यवस्था इस उसूल पर नहीं बन सकती कि हर-हर व्यक्ति को सन्तुष्ट करने की कोशिश की जाए और जब तक एक-एक व्यक्ति को इत्मीनान हासिल न हो जाए, उस वक्त तक किसी हुक्म का अनुपालन न किया जाए। इन्सान जिस व्यवस्था में दाख़िल होता है, इस बुनियादी कर्तव्य को निभाने की शर्त के साथ दाख़िल



होता है कि वह उस व्यवस्था के इक्तिदारे-आला (सम्प्रभुत्व) पर पूरी तरह से यक्रीन रखता है और उसकी हुक्मरानी (शासन) को स्वीकार करता है। अब जिस समय तक वह उस व्यवस्था का अंग है, उसका फ़र्ज़ है कि उस इक्तिदारे-आला का हुक्म माने, चाहे हुक्म के किसी हिस्से पर उसको इत्मीनान हो या न हो—मुजरिम की हैसियत से किसी हुक्म का विरोध करना या आपत्ति जताना दूसरी बात है। एक शख्स ग़ैर-बुनियादी अथवा आंशिक मामलों में नाफ़रमानी करके भी एक व्यवस्था में शामिल रह सकता है। लेकिन अगर कोई शख्स किसी छोटे-से-छोटे ग़ैर-बुनियादी और आंशिक उसूलों में भी अपने खुद के इत्मीनान को इताअत (अनुपालन) के लिए शर्त ठहराता है, तो अस्ल में वह इक्तिदारे-आला की हुक्मत को मानने से इनकार करता है और यह खुली बगावत है। हुक्मत में यह रवैया अपनाया जाएगा, तो उसपर विद्रोह का मुक़द्दमा क़ायम कर दिया जाएगा। फ़ौज में उसका 'कोर्ट-मार्शल' होगा। स्कूल और कॉलेज में फ़ौरन निकाल देने की कार्रवाई की जाएगी। मज़हब में उसपर कुफ़्र अर्थात् विधर्मिता का हुक्म जारी होगा। इसलिए कि इस प्रकार के तर्क और दलील की माँग का हक़ किसी व्यवस्था (निज़ाम) के अन्दर रहकर किसी शख्स को नहीं दिया जा सकता। इस प्रकार की दलील माँगनेवाले का सही मक़ाम अन्दर नहीं, बाहर है। पहले वह बाहर निकल जाए, फिर जो चाहे एतिराज़ करे।

इस्लाम की व्यवस्था में यह क़ायदा अस्ल और बुनियाद की हैसियत रखता है। वह पहले अहक़ाम (निर्देश) नहीं देता, बल्कि सबसे पहले अल्लाह और रसूल पर ईमान लाने की दावत देता है। जितनी दलीलें हैं सब इसी एक चीज़ पर एकत्र कर दी गई हैं। हर अक्ली दलील और फ़ितरत की गवाहियों से इनसान को इस बात पर मुत्मइन (सन्तुष्ट) करने की कोशिश की गई है कि एक खुदा ही उसका इलाह यानी पूज्य-प्रभु है, और मुहम्मद (सल्ल.) खुदा के रसूल हैं। आप जितनी अक्ली जाँच-पड़ताल करना चाहते हैं, इस बुनियादी मसले पर कर लीजिए। अगर किसी दलील और किसी तर्क से आपका दिल इसपर सन्तुष्ट न हो तो आपको इस्लाम में दाख़िल होने पर मजबूर नहीं किया जाएगा और न इस्लामी क़ानून और अहक़ाम में से कोई

आदेश आपपर जारी होगा। लेकिन जब आपने इसको क़बूल कर लिया तो आपकी हैसियत एक 'मुस्लिम' की होगी और मुस्लिम का मतलब ही आज्ञाकारी और इताअत करनेवाला होता है। अब यह ज़रूरी नहीं कि इस्लाम के हर-हर हुक्म पर आपके सामने दलील और सुबूत पेश किए जाएँ और हुक्मों का पालन करना आपके दिल के इत्मीनान पर निर्भर हो। मुस्लिम बन जाने के बाद आपका सबसे पहला फ़र्ज़ यह है कि जो हुक्म आपको खुदा और रसूल की तरफ़ से पहुँचे बेचूँ-चरा उसका पालन करें।

“ईमान लानेवालों का काम तो यह है कि जब वे अल्लाह और रसूल की तरफ़ बुलाए जाएँ ताकि रसूल उनके मुक़द्दमे का फ़ैसला करे तो वे कहें कि हमने सुना और पालन किया।”

(क़ुरआन, सूरा-24 नूर, आयत-51)

ईमान और ऐसी दलील की माँग जो किसी हुक्म को स्वीकार करने और उसका पालन करने के लिए शर्त हो, आपस में एक-दूसरे के विपरीत हैं और इन दोनों का एक साथ जमा करना स्पष्टतः अक़ल के खिलाफ़ है। जो मोमिन है वह इस हैसियत से दलील की माँग करनेवाला नहीं हो सकता और जो ऐसी माँग करता है, वह मोमिन नहीं हो सकता। क़ुरआन कहता है—

“किसी मोमिन मर्द और किसी मोमिन औरत को यह हक़ नहीं है कि जब अल्लाह और उसका रसूल किसी मामले का फ़ैसला कर दे तो फिर उसे अपने उस मामले में खुद फ़ैसला करने का इख़्तियार हासिल रहे।”

(क़ुरआन, सूरा-33 अहज़ाब, आयत-36)

इस्लाम ने इस्लाह (सुधार) और समाज को सुसंगठित करने का जो महान काम किया है, वह सब इसी क़ायदे की वजह से है। दिलों में ईमान बिठा देने के बाद जिस चीज़ से रोका गया, उससे तमाम ईमानवाले रुक गए और जिस चीज़ का हुक्म दिया गया, वह एक इशारे पर लाखों-करोड़ों इनसानों में प्रचलित हो गई। अगर एक-एक चीज़ के लिए अक़ली दलीलें पेश करना ज़रूरी होता और हर हुक्म देने और रोकने की हिकमतें और मस्लहतें समझाने पर हुक्मों की इताअत निर्भर होती, तो क्रियामत तक इनसानों का

यह नैतिक सुधार और उनके संगठन की वह व्यवस्था न हो सकती, जो अल्लाह के रसूल (सल्ल.) ने 23 साल की मुखासर (संक्षिप्त) मुद्दत में पूरी कर दी।

इसका यह मतलब नहीं कि इस्लाम के अहकाम अक्ल के खिलाफ़ हैं या उसका कोई छोटे-से-छोटा हुक्म हिकमत (तत्वदर्शिता) व हितों से ख़ाली है। इसका मतलब यह भी नहीं कि इस्लाम अपने पैरवी करनेवालों में अंधों की तरह तकलीद यानी अनुसरण करवाना चाहता है और हुक्मों की अक्ली (बौद्धिक) व स्वाभाविक बुनियादों को तलाश करने और उनकी मस्लहतों और हिकमतों को समझने से रोकता है। हकीकत इसके विपरीत है। इस्लाम की सही पैरवी के लिए इस्लामी अहकाम का ज्ञान और सोच-विचार ज़रूरी है। जो शख्स अहकाम की हिकमतों और उनकी मस्लहतों को जितना ज़्यादा समझेगा, वह उतना ही ज़्यादा सही तरीक़े से उनपर अमल कर सकेगा। ऐसी समझ-बूझ और चिन्तन से इस्लाम रोकता नहीं, बल्कि उसका हौसला बढ़ाता है। लेकिन ज़मीन और आसमान का फ़र्क़ है उस अक्ली जिज्ञासा एवं तलाश में जो हुक्म का पालन करने के बाद हो और उस अक्ली इम्तिहान में जो हुक्म के पालन से पहले हो और हुक्म के पालन के लिए शर्त हो। मुस्लिम सबसे पहले बिना शर्त के इताअत (अनुपालन) करता है। फिर हुक्मों की मस्लहतों (निहित हितों) को समझने की कोशिश करता है और यह ज़रूरी नहीं कि हर हुक्म में छिपे हित उसकी समझ में आ जाएँ। उसको तो वास्तव में खुदा की खुदाई और रसूल की रिसालत पर पूरा इत्मीनान हासिल होता है। इसके बाद वह पूरी गहराई के साथ समझ हासिल करने के लिए छोटी-छोटी बातों पर भी और अधिक इत्मीनान हासिल करना चाहता है। अगर यह इत्मीनान भी हासिल हो जाए तो खुदा का शुक्र अदा करता है और अगर हासिल न हो, तो उस पूरे इत्मीनान की बुनियाद पर जो उसे खुदा और रसूल पर है, बिना देर किए हुक्मों का पालन किए चला जाता है। इस क्रिस्म की दलीलों की चाह को उस दलीलों की चाह से क्या ताल्लुक़ जो हर क़दम पर पेश की जाए और इस इरादे के साथ पेश की जाए कि अगर इत्मीनान करते हो तो क़दम उठाता हूँ, वरना पीछे पलटा जाता हूँ।

हाल में एक लेख हमारी नज़र से गुज़रा, जो एक मुस्लिम जमाअत की तरफ़ से छापा गया है। यह जमाअत आला तालीमयाफ़ता (उच्च शिक्षा प्राप्त) मुसलमानों पर आधारित है। मज़हब से फ़िरी हुई भी नहीं, बल्कि अपने ख़याल में बड़ी मज़हबी ख़िदमत कर रही है। मज़हबी 'सुधार' के नाम से जिन बातों का प्रचार वह करती है, उनमें से एक यह भी है कि हर साल बक़रीद के मौक़े पर मुसलमानों को क़ुरबानी से रोका जाता है और उन्हें मश्वरा दिया जाता है कि जो रुपए जानवरों को ज़ब्ह करने पर ख़र्च करते हैं, उसे क़ौमी सुधारों में मदद, यतीमों और बेवाओं की परवरिश और बेरोज़गारों को रोज़गार उपलब्ध करने में ख़र्च करें। इस प्रचार-प्रसार पर किसी मुसलमान ने एतिराज़ किया, जिसका पूरा लेख हम तक नहीं पहुँचा है, मगर इस एतिराज़ के जवाब में जो कुछ कहा गया वह यह है—

“सिवाय परम्परा और अनुसरण करने के आज तक किसी साहब ने क़ुरबानी के अक़ली व तज़रिबी फ़ायदों पर रौशनी नहीं डाली... अगर कोई शख्स इससे पहले कि हमको अपने क़ुरबानी के अक़ीदे के अक़ली पहलू से आगाह करें, तो हमारे शुक्रिए के हक़दार होंगे।”

यह लेख नमूना है उन लोगों की दिमागी हालत का, जो अपने-आपको 'तालीमयाफ़ता' यानी शिक्षित कहते हैं। एक तरफ़ 'अक़लीयत' यानी बुद्धिमत्ता का इतना ज़बरदस्त दावा है और दूसरी तरफ़ 'ग़ैर-अक़लीयत' यानी बुद्धिहीनता (बे-अक़ली) का इतना ज़्यादा मुज़ाहरा है। सिर्फ़ यही दो वाक्य जो उनके मुबारक क़लम से निकले हैं, इस बात की गवाही दे रहे हैं कि आपने अपनी सही हैसियत ही निश्चित नहीं की। अगर आप मुस्लिम की हैसियत से बोल रहे हैं तो आपको सबसे पहले 'नक़ल' यानी रिवायत और परम्परा के आगे सिर झुकाना चाहिए। फिर अक़ली दलीलो-सुबूत की माँग करने का हक़ आपको होगा और वह भी अनुपालन की शर्त के तौर पर नहीं,

- 
1. इस विषय पर लेखक की पुस्तक अलग से प्रकाशित हो चुकी है, जिसमें उन्होंने क़ुरबानी के महत्व पर रौशनी डाली है।

बल्कि सिर्फ़ दिल के इत्मीनान के लिए। और अगर आप अनुपालन से पहले अक्ली दलीलो-सुबूत चाहते हैं और यह अनुपालन की शर्त है, तो आपको 'मुस्लिम' की हैसियत से बोलने का हक़ नहीं। इस तरह की दलीलो-सुबूत चाहनेवाले को पहले एक गैर-मुस्लिम की हैसियत अपनानी चाहिए, फिर उसको यह हक़ तो हासिल होगा कि वह किसी मसले पर एतिराज़ करे, मगर यह हक़ न होगा कि मुसलमानों की किसी दीनी बात में इस्लाम का मुफ़्ती बनकर फ़तवा जारी करे। आप एक ही वक़्त में इन दोनों विपरीत हैसियतों को इख़्तियार करते हैं और एक हैसियत की भी अक्ली माँगों को पूरा नहीं करते। एक तरफ़ आप न सिर्फ़ 'मुस्लिम' बल्कि इस्लाम के मुफ़्ती बनते हैं, दूसरी तरफ़ आपका यह हाल है कि 'नक्ल' यानी रिवायत और परम्परा को आप हेच (तुच्छ) समझते हैं। हाकिम का 'हुक्म' होना आपको रिवायत के ज़रिए से साबित किया जाता है तो आप उसके मानने और पालन करने से इनकार कर देते हैं और यह शर्त पेश करते हैं कि पहले इस हुक्म के अक्ली व तजरिबी फ़ायदों पर रौशनी डाली जाए। दूसरे शब्दों में यह कि आप किसी हुक्म को सिर्फ़ खुदा और उसके रसूल का हुक्म होने की हैसियत से नहीं मानेंगे बल्कि उसके अक्ली और तजरिबी फ़ायदों की बुनियाद पर मानेंगे। अगर ऐसे फ़ायदे मालूम न हो सकें या आपके पैमाने पर वे 'फ़ायदे' साबित न हों तो आप हुक्म को रद्द कर देंगे, उसके खिलाफ़ प्रोपोगण्डे करेंगे उसको अनुचित, बेमौक़ा, बेमानी (निरर्थक), बल्कि नुक़सानदायक और ग़लत रस्म ठहराएँगे और मुसलमानों को उसका पालन करने से रोकने में अपनी पूरी ताक़त लगाएँगे। कौन-सी अक्ल है जो इस ख़राब रवैये और विपरीत हैसियतों को जाइज़ ठहराती हो? अक्ली दलील की माँग सही और दुरुस्त है, मगर पहले यह साबित कीजिए कि आप बुद्धि रखनेवालों में से हैं।

'अक्ली' और 'तजरिबी' फ़ायदा किसी एक ख़ास और सुनिश्चित चीज़ का नाम नहीं है, बल्कि यह इनसान की समझ-बूझ, ज्ञान और स्वभाव वगैरा पर निर्भर करता है। एक व्यक्ति की अक्ल एक चीज़ को फ़ायदेमन्द समझती है, दूसरे की अक्ल उसके खिलाफ़ हुक्म लगाती है। तीसरा शख्स उसमें किसी किसिम का फ़ायदा स्वीकार तो करता है, मगर उसको अहमियत नहीं

देता और एक दूसरी चीज़ को उससे ज़्यादा फ़ायदेमन्द ठहराता है। तज़रिबी यानी अनुभव में आए हुए फ़ायदों में इससे भी अधिक इख़्तिलाफ़ की गुंजाइश है। फ़ायदे के बारे में हर व्यक्ति का नज़रिया अलग है और उसी नज़रिए के लिहाज़ से वह अपने या दूसरों के तज़रिबों का मूल्यांकन करके फ़ायदेमन्द या नुक़सानदेह होने का हुक्म लगाता है। एक व्यक्ति तत्काल मिलनेवाला फ़ायदा चाहता और सिर्फ़ तत्काल मिलनेवाले नुक़सान से बचने पर ध्यान देता है। उसका इन्तिखाब (चुनाव) ऐसे व्यक्ति के इन्तिखाब से यक़ीनन अलग होगा, जिसकी नज़र काम के अंजाम पर हो। बहुत-सी चीज़ें ऐसी हैं, जिनमें एक तरह का फ़ायदा और दूसरी तरह का नुक़सान है। एक उनको इसलिए अपनाता है कि वह फ़ायदे के लिए नुक़सान को क़बूल करने के लिए तैयार है। दूसरा व्यक्ति उनसे बचता है, क्योंकि उसकी राय में उनका नुक़सान उनके फ़ायदे से ज़्यादा है। फिर अक्ली और तज़रिबी फ़ायदों में भी कभी-कभी परस्पर विरोध पाया जाता है। एक चीज़ तज़रिबी हैसियत से नुक़सानदेह है, मगर अक्ल फ़ैसला करती है कि किसी बड़े अक्ली फ़ायदे के लिए इस नुक़सान को बरदाश्त करना चाहिए। एक दूसरी चीज़ है, जो तज़रिबी हैसियत से फ़ायदेमन्द है, मगर अक्ल यह फ़तवा देती है कि किसी अक्ली नुक़सान से बचने के लिए उससे बचना चाहिए। ऐसे मतभेदों की मौजूदगी में किसी चीज़ के अक्ली और तज़रिबी फ़ायदों पर कोई ऐसी रौशनी डालनी मुमकिन ही नहीं जिससे तमाम लोग उसके फ़ायदेमन्द होने पर सहमत हो जाएँ और इनकार की गुंजाइश भी बाक़ी न रहे। सिर्फ़ एक कुरबानी ही क्या! नमाज़, रोज़ा, हज, ज़कात और शरीअत के हलाल और हराम के अहक़ाम में से कौन-सी चीज़ ऐसी है, जिसके अक्ली और तज़रिबी फ़ायदों पर ऐसी रौशनी डाल दी गई हो कि वे बिलकुल स्पष्ट नज़र आने लगे हों और तमाम लोगों ने उनको ऐसा स्वीकार करके उनकी पाबन्दी इख़्तियार कर ली हो। अगर ऐसा होता तो आज एक शख्स भी दुनिया में नमाज़ व रोज़े का छोड़नेवाला और हज व ज़कात का इनकारी न होता। इसी लिए इस्लाम ने अहक़ाम को हर शख्स की अक्ल और तज़रिबे के फ़तवे पर निर्भर नहीं रखा है, बल्कि ईमान और इताअत को बुनियाद बनाया है। मुस्लिम

अक्ली और तजरिबी फ़ायदों पर ईमान नहीं लाता, बल्कि खुदा और रसूल पर ईमान लाता है। उसका मज़हब यह नहीं है कि किसी चीज़ का फ़ायदा अक्ल और तजरिबे से साबित हो जाए, तब वह उसको क़बूल करे और किसी का नुक़सान अक्ली और तजरिबी हैसियत से पूरी तरह खुल जाए तब वह उससे बचे, बल्कि उसका मज़हब यह है कि खुदा और उसके रसूल से जो हुक्म साबित हो जाए, वह अमल करने के लायक़ है और जो साबित न हो वह इत्तिबा (पालन करने) के लायक़ नहीं।

इसलिए यहाँ अस्ती सवाल यही है कि आपका ईमान अक्ल और तजरिबे पर है या खुदा और उसके रसूल पर? अगर पहली बात है तो आपको इस्लाम से कुछ वास्ता नहीं। फिर आपको मुसलमान बनकर गुफ़्तगू (वार्ता करने) और मुसलमानों को 'हज और हज में की जानेवाली क़ुरबानी की बेफ़ायदा सुन्नत' से बचने का मश्वरा देने का क्या हक़ है और अगर दूसरी बात है तो बहस का बिन्दु अक्ली और तजरिबी फ़ायदे नहीं होने चाहिए, बल्कि यह सवाल होना चाहिए कि क्या क़ुरबानी सिर्फ़ एक रस्म है, जिसको मुसलमानों ने घड़ लिया है या एक इबादत है, जिसको अल्लाह ने पसन्द किया है और अल्लाह के रसूल (सल्ल.) ने अपनी उम्मत में जारी किया है?

(तर्जुमानुल-क़ुरआन, जून 1936 ई.)

